भारत द्वीप का सामाजिक संघटन

डॉ0 प्रेरणा माथुर
सहायक आचार्य, प्राच्य संस्कृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

शोध–सार

संस्कृत साहित्य अपनी गरिमा के लिए केवल भारत में ही नहीं अपितु समस्त संसार में विख्यात है। महाकवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भारवि, भवभूति आदि साहित्यकारों की साहित्यिक सम्पदा को सभी देशों के विद्वानों द्वारा सम्मान एवं मान्यता प्रदान की गयी है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में सामाजिक संघटन का वर्णन अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इस संघटन का वर्णन करते समय जिन नैतिक आदर्शों तथा सामाजिक उदात्त भावनाओं तथा समाज संरचना का चित्रण किया गया है वह प्राणिमात्र के लिए प्रेरणादायक है। प्रस्तुत शोधपत्र में भारतद्वीप में सामाजिक संघटन को ही समझने का प्रयास करते हुए समाज और मनुष्य का सम्बन्ध, वर्तमान जगत् के समाज विज्ञान और प्राचीनतम समाजविज्ञान की पृथकता का विवेचन, आर्य जाति के समाजविज्ञान के अनादि, स्वाभाविक और पूर्ण होने के अकाट्य कारण, तथा आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्यजाति को तपन से दग्ध न होने देने के लिए वर्णाश्रम का महत्त्व आदि का सम्यक् विवेचन किया गया है। इसके साथ–साथ बीज और क्षेत्र रूप से नर और नारी का होना,क्षेत्र की पवित्रता की विशेष प्रयोजनीयता, वर्णाश्रम का कल्पद्रुम रूप से वर्णन आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है।

मुख्य शब्दः *भारत द्वीप, संघटन*

जैसा वृक्ष का वन के साथ संबंध है, वैसा ही मनुष्य का मनुष्य समाज के साथ संबंध है। जिस प्रकार दावानल से वन की रक्षा करने के लिए जंगलों मे पृथक–पृथक खण्ड (Eire line) बना दिये जाते हैं, जिससे एक खण्ड की अग्नि दूसरे खण्ड में जाकर समस्त वन को भस्म न कर डाले, उसी प्रकार चारों वर्णों के चार अलग–अलग खण्ड बनाकर उनके द्वारा वर्णाश्रम बन्ध की दृढ़ता से आध्यात्मिक उन्नतिशील मनुष्य समाज की बड़ी सुकौशलपूर्ण रीति से भारतद्वीप में रक्षा की गयी है। भारतद्वीप का समाज विज्ञान वर्तमान जगत् के समाज विज्ञान (सोशियोलॉजी) से कुछ विचित्र और विलक्षण है। वर्तमान सभ्य जगत् की सोशियोलॉजी एक तो केवल लौकिक परीक्षा के ऊपर निर्भर करके बनायी गयी है। दूसरी बात यह है कि, वर्तमान सभ्य जगत् के चिन्ताशील नेताओं ने जिस सुख के अन्वेषण के लिये सोशियोलॉजी का अनुशीलन किया है, उस सुख का यथार्थ स्वरूप क्या है, उसका पता वे अभी तक नहीं लगा सके हैं। तीसरी बात यह है कि, जिस मनुष्य समाज का स्त्री जाति एक बहुत ही आवश्यकीय और प्रधान अंग है, उस स्त्री जाति के धर्म और पुरूष जाति के धर्म और दोनों के अलग–अलग अधिकारों पर उनकी दृष्टि ही आकृष्ट नहीं हुई है। और चौथी बात यह है कि, पदार्थ विद्या का अनुशीलन करने वाला वर्तमान सभ्य जगत् न तो स्थूल मनुष्य शरीर के भीतर के दो अंगों – सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के अस्तित्व पर दृष्टि डालता है और न यही विश्वास करता है कि, इस स्थूल मृत्युलोक के पीछे उसका चालक एक बड़ा प्रतापशाली दैवलोक है– **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**

इन सब त्रुटियों के कारण वर्तमान सभ्य जगत की सोशियोलॉजी अर्थात् समाज संघटन प्रणाली प्राचीन भारतद्वीपवासी वर्णाश्रम श्रृंखला सेवी आर्यों की समाज संघटन प्रणाली से बहुत ही दुर्बल है, इसमें संदेह नहीं है। इस दुर्बलता का एक प्रधान कारण यह भी है कि, वर्तमान सभ्य जगत् की सोशियोलॉजी अदूरदर्शी मनुष्य बुद्धि सम्भूत है और प्राचीन भारतद्वीप की सोशियोलॉजी दूरदर्शी

देवलोक के नेतृवन्दों के द्वारा संस्थापित हुई है। सृष्टि के आदिकाल में श्री भगवान् ब्रह्मा जी ने देखा कि, मनुष्य समाज, जो सारे ब्रह्माण्ड का केन्द्रीभूत शक्तिरूप है, वही भारत वर्षीय मनुष्य–समाज नीचे की ओर गिरता जा रहा है। जिस समय उन्होंने ऐसा अनुभव किया, उसी समय वर्णाश्रम के प्रबल बन्ध के द्वारा भारतीय मनुष्य समाज की नीचे की ओर गिरती हुई दषा को कालचक्र के राजा मनु को भेजकर रोक दिया, जैसा कि, पहिले एक औपनिषदिक दृश्य बताकर सिद्ध किया गया है। देवबृद्धि से सृष्टि की आदि अवस्था में जो सोशियोलॉजी बनी और उसके जो सिद्धांत निश्चित किये गये, वे सब गंभीर विज्ञान की भित्ति पर स्थित हैं।

प्राचीन आर्यों के समाज विज्ञान–(सोशियोलॉजी) को सफल बनाने के लिये, उसकी सामाजिक श्रृंखला बनाने के लिये और साथ ही साथ आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्य जाति को काल के तपन से दग्ध न होने के लिए जो आठ अग्निरक्ष रेखाएँ (Fire Line) बनायी गयी हैं और उसकी दृढ़ता के लिये जो बंध बाँध गये हैं, वे ही चातुर्वण्ये के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्ररूपी चार वर्ण हैं और चतुराश्रम के ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास रूपी चार आश्रम हैं। चार वर्ण तो प्रधानताः अलौकिक अभ्युदय के हेतु और चार आश्रम प्रधानतः पारलौकिक अभ्युदय के हेतु हैं और निःश्रेयस प्राप्ति के लिये आठों ही परम सहायक हैं। वेद के मीमांसा दर्शन में स्पष्ट रूप से प्रमाणित किया गया है कि, यथार्थ सुखरूपी परमानन्द की उपलब्धि कराने के लिये ही चार आश्रमों की व्यवस्था बाँधी गयी है। विषयों में जो सुख की प्राप्ति होती है, उसकी पर्यालोचना करने से यही सिद्ध होता है कि, विषयों में आनन्द नहीं है, किंतु आनन्द परमात्मा का स्वरूप है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि, मिष्टान्न में आनन्द नहीं है, किंतु आनन्द परमात्मा का स्वरूप है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि, मिष्टान्न में आनन्द नहीं है यदि ऐसा होता, तो यकृत के रोग के रोगी को भी मिष्टान्न सेवन से आनंद आता। विषय के संसर्ग से इन्द्रियाँ मन को एकाग्र करके अपने आप ही समाधिस्थ करा देती हैं। योग का सिद्धांत यह है कि, समाधिस्थ अन्तःकरण में परमानन्दस्वरूप आत्मा का स्वतः ही विकास हो जाता है। उसी की झलक से विषय सुख में जीव को आनन्द की प्राप्त हो जाती है–

प्रवृत्ते रोध को ज्ञेवो वर्णाधर्मों महामुने।
आश्रमस्य च धर्मों हि निवृत्तेः पोशकः स्मृतः।।
प्रवृत्ति शास्त्रविहितां ब्रह्मचर्ये तु शिक्षते।
समाचरति गार्हस्थ्ये तां प्रवृत्ति पुमान् भुवि।।
वानप्रस्थे निवृत्तेस्तु शिक्षा 'पुंसु प्रजायते'।
निघृतिः पूर्णतां याति संन्यासाश्रममेत्य वै।।
आश्रमाणां चतुणां वे प्रधनों धर्म उच्यते।
संयमस्तु गृहस्थानां नियमों ब्रह्मचारिणाम्।
वानप्रस्थाश्रमस्थानां तपस्त्यागस्तु न्यासिनाम्।।

यथार्थ सुख क्या है? यथार्थ आनन्द क्या है? विषयानन्द में और यथार्थ आनन्द में भेदप्रतीति कैसे हो सकती है? आनन्द की उपलब्धि क्रमशः कैसे बढ़ती और कहाँ उसकी समाप्ति होती है? इन सब गंभीर आध्यात्मिक रहस्यों का पता वर्णाश्रमधर्मी प्राचीन आर्यजाति के ब्राह्मणों ने ही लगाया था। वर्तमान सभ्य जगत् को उसका रहस्य स्वप्न में भी अनुभूत नहीं हो सकता। अग्रजन्मा ब्राह्मणों की तपस्या, विद्या और शक्ति सब वर्णों की अपेक्षा अधिक होने पर भी वे तपस्या, त्याग और अध्यात्म चिन्तन को ही मुख्य मानकर, क्षत्रियों पर राजानुशासन का भार देकर, स्वयं वन में जाकर वास किया करते हैं। एकाधार में सब ऐश्वर्यों के अधिकारी होने पर भी धन को हेय समझकर तपस्या और स्वाध्याय को वे उपादेय समझते थे। ऐश्वर्यशाली नगरों को त्याग करके वन में जाकर एकान्तसेवी होकर वैदिक कर्म, ब्रह्मोपासना और आत्मा नात्म–विचार में तृप्त रहते थे। उनका यह सिद्धांत निश्चित था कि, विषयिक सुख में सुख नहीं है। उनका यह निष्चय था कि, सातों असुरलोक रूपी बिलस्वर्ग से लेकर भूः भुवः

स्वः रूपी त्रिलोक के सब सुख विषयिक सुख हैं। इस कारण वे त्रिलोक के सुखों के त्याग का संकल्प कर तब संन्यास आश्रम ग्रहण करते थे। वर्णाश्रम की यावत् श्रृंखला की मौलिक भित्ति यथार्थ सुख का प्राप्ति है। उन्होंने यहाँ तक पता लगाया था कि, यथार्थ सुख की प्राप्ति उत्तरोत्तर कैसे हो सकती है। वेद और शास्त्र का यही सार–सिद्धांत है कि, आनंद आत्मा का स्वरूप है। आत्मा सत् है चित् है और आनंदस्वरूप है, यह सर्वसिद्ध सिद्धांत है। उस आत्मा के स्वरूप को इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्रकृति आच्छन्न किये रहती है। जब उत्तरोत्तर इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्रकृति के इस आवरण भाव को दूर कर सकने पर यथार्थ आनंद उदय स्वतः ही होता है। जब तत्वदर्शी महापुरूष विषयिक सुख से मुँह फेर लेता है, तो पहिले वह अपने इन्द्रियों पर आधिपत्य स्थापन करने की शक्ति प्राप्त करता है। उस समय उस महात्मा को जो सुख की प्राप्ति होती है, वह यथार्थ सुख की पहिली अवस्था है। ऐसे महापुरूष को उसके स्थूल शरीर के अंत होने पर प्राजापत्य स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यह ऊपर का चौथा लोक है। जो महापुरूष ऐसे संयमी हो जाते हैं कि इन्द्रिय और मन दोनों पर जिनका पूर्ण आधिपत्य हो जाता है, उनके अन्तःकरण में जिस सुख का उदय होता है, वह यथार्थ सुख की दूसरी अवस्था है। ऐसे महात्माओं के स्थूल शरीर का अंत होने पर उनको प्रथम ब्राह्मस्वर्ग अर्थात् जनलोक की प्राप्ति होती है। जो योगिराज महापुरूष महत्व अर्थात् बुद्धितत्व पर पूर्ण आधिपत्य कर लेते हैं और जब चाहें, ब्रह्म में युक्तबुद्धि में समाहित हो सकते हैं, उनको जिस आनंद की प्राप्ति होती है, वह यथार्थ सुख की तीसरी अवस्था है और ऐसे योगीराज महात्माओं के स्थूल शरीर का अंत होने पर वे ब्राह्मस्वर्ग के द्वितीय लोक अर्थात् तपोलोक को प्राप्त करते हैं। और जो महात्मा कृतकृत्य होकर प्रधान अर्थात् प्रकृति पर अधिकार कर लेते हैं, उनके अंतःकरण में जो आनंद का विकास कर लेते हैं, उनके अंतःकरण में जो आनंद का विकास होता है, वह सुख की तुरीयावस्था है उनको स्थूल देह के छोड़ने पर सत्यलोक की प्राप्ति होती है, जो ब्राह्मस्वर्ग और चतुर्दश भुवनों का सर्वोन्नत लोक है। इस प्रकार से इन्द्रियसुख को हेय मानकर ब्रह्मानन्द प्राप्ति की सीढ़ियों को भली प्रकार से देखकर ब्रह्मानन्द पारावार में निमग्न होते हुए जगद्गुरू ब्राह्मणों ने यथार्थ सुख प्राप्ति का मार्ग मनुष्य जाति को बताया है। जिसकी कल्पना आजकल के सभ्य जगत् को नही हो सकती। सब प्रपत्रों से अतीत, सब निरानन्दों से रहित, अद्वैत भावापन्न और एकाधार में अस्ति, भाति और आनन्द का जो अद्वैत स्वानुभव है, वही भगवान् का स्वरूप है और वही परमानन्द पारावार है। जिसको पूज्यपाद मर्षियों ने ही सबसे पहले इस मृत्युलोक में अनुभव किया था।

यह सिद्धांत सब वैदिक दर्शनों का सार है। उसी परमानंद का स्वानुभाव प्राप्त करने के लिये चार आश्रमों की सृष्टि हुई है। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवृत्ति में उपाय सिखाये जाते हैं, गृहस्थाश्रम में वेद और शास्त्रविहित प्रवृत्ति करायी जाती है और मनुष्य को निवृत्ति मार्ग में चलने के लिये तैयार कराया जाता है। वानंप्रस्थाश्रम में निवृत्ति सिखायी जाती है और संन्यासाश्रम में निवृत्ति का पूर्ण अधिकार प्राप्त करते हुए मनुष्य को आत्मा की उपलब्धि कराके परमानन्द पारावार में उन्मज्जन–निमज्जन कराया जाता है। यही प्राचीन आर्यों के चतुराश्रम का मौलिक विज्ञान है।

विधवोद्वाहो व्योमकुसुमवदतः।

तदादर्शो दुर्गा गौरी महामाया च।

सपिण्डा सगोत्रा वयोज्येष्ठा च कन्या परिवर्जनीया।

सर्गे नार्याः प्राधान्यम् कौशेयकीटवत्।

तच्छुद्विरक्षणम् क्षेत्रत्।

जिन जातियों में वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है अथवा जो वर्णाश्रम व्यवस्था को नहीं समझते हैं, वे कई तरह की निर्मल शंकाएँ किया करते हैं। यथा– पृथ्वी की अन्य जातियों में जैसी रजोवीर्य की शुद्धि नहीं है, वैसी ही वर्णाश्रमी हिंदुओं में भी

नहीं है। यद्यपि रजोवीर्य का सम्मिश्रण सब जातियों में ही हो सकता है और नाना कारणों में वृद्ध हिंदू जाति में भी इस प्रकार का सम्मिश्रण हो जाना संभव है, परंतु इस प्रकार के सम्मिश्रण के न होने का सबसे बड़ा प्रमाण गोत्र है। ऋषिगोत्र जिन–जिन जातियों में प्रचलित हैं, उन–उन जातियों में रजोवीर्य की शुद्धि बराबर चली आयी है, ऐसा माना जा सकता है। दूसरी और वर्तमान समय में हिंदू जाति के चातुर्वर्ण्य में और उसके अर्न्तविभागों में वैवाहिक संबंध के जो अलग–अलग गोल बाँध दिये गये हैं, वे रजोवीर्य शुद्धि के विचार से दूषण नहीं भूषण ही हैं।

मनुष्य समाज के दो प्रधान अंग हैं। एक स्त्री और दूसरा पुरूष। स्त्री क्षेत्ररूपा है और पुरूष बीजरूप है। जिस प्रकार के भूमि में बोने तक की बीज की सुरक्षा करने की आवश्यकता है। उसके बाद बीज का ठीक उगना, वृक्ष शाखाओं का बढ़ना और फल का ठीक फलना, सब भूमि की योग्यता पर निर्भर है। ठीक उसी प्रकार सृष्टि कार्य में नारी की प्रधानता है। सृष्टि क्रिया में में स्त्री मुख्य और पुरूष गौण है, क्योंकि पुरूष का कार्य केवल कुछ मिनटों का है और स्त्री की जिम्मेवारी नौ–दस महीने और उससे भी अधिक है। तीसरी विचार की बात यह है कि, पुरूष के व्यभिचार का परिणाम केवल उसके अपने शरीर तक ही रहता है, परंतु स्त्री का व्यभिचार कुल, जाति और मनुष्य समाज को नष्ट कर देता है। इस प्रकार से जितना ही विचार किया जायेगा, सृष्टि क्रिया में स्त्री की प्रधानता और समाज के संघटन में पुरूष की प्रधानता का अनुभव होगा। इसी अलंघनीय और अपरिवर्तनीय सिद्धांतों को लक्ष्य में रखकर भारतद्वीप के प्राचीन आर्यों ने अपनी सोशियालाजी की भित्ति की स्थापना की थी।

गरीयस्त्वमियमार्यजातेः शुद्धित्रैविध्यात्। प्रकृतेः सर्वशक्तिमत्वात्। प्रकृतिमूलो जाति–धर्मः। तस्माद्वर्णधर्मस्तथा। संकरोऽश्वतरवत्।

तदुब्रतिविंशिष्टसंयोगिववृक्षवत्।

अधिभूतशुद्धिनाषकोऽसवर्णोद्वाहः। गुणपरिपन्थी च।

इसी बीज और भूमि के अधिकारों को अपने विचार के सम्मुख रखकर और स्त्री जाति की जिम्मेवारी के अनुसार उसके महत्वों को सम्मुख रखकर नारी जाति की पवित्रता रक्षा के लिये महर्षियों ने अपनी वर्णाश्रमरूपी सोशियोलॉजी की दृढ़ सिद्धांत में नारी जाति के त्रिलोक पवित्रकारी धर्मों का समावेश किया है। नारी जाति को जगजननी भगवती का स्वरूप समझना, कुमारी अवस्था में मूर्तिमती दुर्गारूपी से उसका आदर करना, विधवा अवस्था में संन्यासिनी और महामाया रूप से उसका सम्मान करना, यह वर्णाश्रम का सुप्रसिद्ध शिष्टाचार है। कन्या में यौवन का लक्षण रूप रजोधर्म होने से पूर्व उसका विवाह करने की आज्ञा सब महर्षियों ने एक वाक्य होकर इस कारण से दी है कि, उसका अन्तःकरण पतिदुर्ग के द्वारा सुरक्षित हो जाये और किसी प्रकार कलंकित न हो सके। आर्यमहिला को सर्व प्रकार से सुरक्षित रखने के लिये ही उसको निरंकुश और स्वाधीन न बनाकर सर्वदा वर्णाश्रम श्रृंखला में परतंत्र बनाया है। नारी जाति की यह तपस्या उसकी महत्व वृद्धि और मनुष्य समाज की सुरक्षा के लिये है। इसी प्रकार सतीत्व धर्म का आदेश चिरस्थायी रखने के लिये पूज्यवाद महर्षियों ने विधवाविवाह का निषेध करके विधवा आर्यमहिला को आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की आज्ञा दी है। प्राचीन भारतद्वीप को सोशियोलॉजी में एक ओर नारी जाति की पूजा द्वारा पुरूष की तपस्या बढ़ायी गयी है और दूसरी ओर नारी जाति की तपस्या बढ़ाकर वर्णाश्रम मानने वाली मनुष्य जाति के महत्व को अक्षुण्ण रक्खा गया है। यही कारण हे कि प्राचीन भारतद्वीप की सामाजिक श्रृंखला (सोशियोलॉजी) में पूज्यपाद महर्षियों ने अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय मानकर नाना प्रकार से आर्य महिलाओं की पवित्रता की रक्षा करने के लिये अतिदृढ़ नियम बनाये हैं। वर्तमान जग् की सभ्यता के प्रेमीजन उन सब दृढ़ आचारों के महत्व को न समझकर नाना प्रकार की अश्लील कल्पना भले ही

करें, परंतु आर्य महिलाओं की पवित्रता की रक्षा करना, यही वर्णाश्रम रक्षा का प्रथम दुर्ग है।

असवर्ण विवाह को रोककर रज और वीर्य की शुद्धि रक्षा करना, यह वर्णाश्रम धर्म की रक्षा का दूसरा सुदृढ़ दुर्ग है। वर्तमान समय की पदार्थ विद्या (साइंस) ने यह प्रत्यक्ष दिखाकर सिद्ध कर दिया है कि कोई पशु जब शिक्षित किया जाता है, तो उसके माता–पिता यदि पूर्व से वैसे ही शिक्षित हों, तो उनके बच्चों की शिक्षा बहुत ही थोड़े दिनों सफल हो जाती है। एक सफेद चूहे को यदि पानी भरना सिखाया जाये, तो उसको कम से कम तीन सौ बार यथायोगय शिक्षा देनी पड़ती है। परंतु यदि ऐसे चूहे के बच्चे को केवल तीस बार शिक्षा देने से ही उसमें पानी भरने का पूर्ण कौशल आ जाता है। पूज्यपाद महर्षिगण इस वर्ण परंपरा के विज्ञान से अच्छी तरह से परिचित थे। इसके मर्म को अच्छी तरह समझकर उन्होंने दर्शनशास्त्र में स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर दिया है कि, गुण और भाव दोनों ही रज और वीर्य के द्वारा आकृष्ट होकर पिता–माता के द्वारा वर्ण परंपरा रूप से पुत्र में खिच आते हैं। प्राचीन भारतद्वीपवासियों का यह सिद्धांत है कि, सत्व–रज–तम रूपी तीन गुण और अध्यात्म–अधिदैव–अधिभूतरूपी तीन भावों का आकर्षण वर्ण परंपरा रूप से रजोवीर्य के द्वारा साधारण रूप से अवश्य हुआ करता हैं इसी कारण प्राचीन भारतद्वीप की सोशियोलॉजी में जन्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार जातियों का होना निश्चित किया गया है। और यही कारण है कि, असवर्ण विवाह का वर्णाश्रम धर्म में निषेध किया गया है। क्योंकि असवर्ण विवाह के द्वारा रजोवीर्य के अपवित्र हो जाने से वर्ण–धर्म की व्यवस्था रह ही नहीं सकती। वर्तमान समय की पदार्थ विद्या (साइन्स) भी आगे बढ़ती हुई यह मानने लगी है कि, मनुष्य प्रकृति चार प्रकार की होती है और मनुष्य श्रेणी का रक्त भी चार प्रकार का होता है। ये चारों श्रेणी के रक्त यदि परस्पर में मिला दिये जाये तो मनुष्य मर जाता है और न मरे, तो उसकी आगे की सृष्टि नष्ट हो जाती है। पूज्यपाद महर्षियों का यह प्राचीन सिद्धान्त है कि, जिस मनुष्य जाति में वर्णाश्रम श्रृंखला नहीं है, वह मनुष्य जाति चिरजीवी नहीं हो सकती। इसी सिद्धांत पर स्थिर रहकर पूज्यपाद महर्षियों आर्य और अनार्यों के लक्षण किये हैं कि जो जाति वर्णाश्रम माने, वह आर्य जाति और जो न माने वह अनार्य है–

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितब्यांच बहुकल्याणमीप्सुभिः।।
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याषु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु याश्चैता वर्द्धते वद्धि सर्वदा।।
जामयो यानि गेहानि पश्चन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः।।
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाषनैः।
भूतिकामैनरेनित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च।।

वर्णाश्रम रक्षा का तीसरा दुर्ग प्राचीन भारतद्वीप की विवाह पद्धति है। सगोत्रा कन्या के साथ विवाह न करना, वयोज्येष्ठा (अपनी उम्र से अधिक उम्र की कन्या) के साथ विवाह न करना और सात्विक रीति से विवाह संस्कार को सुसम्पन्न करना, यह विवाह के तीन मौलिक सिद्धांत हैं। वेद के कर्ममीमांसा शास्त्र में स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है कि, एक ही गोत्र के रज और एक ही गोत्र के वीर्य का सम्मिश्रण करने से आगे की सृष्टि दुर्बल हो जाती है और आगे चलकर कुल का नाश हो जाता है। पदार्थ विद्या द्वारा भी यह सिद्ध हो चुका है कि, घोड़ों, गायों और भैंसों की नस्लों में एक ही पशु के द्वारा उसी वर्ण परंपरा के स्त्री–पशु में यदि नियमित सृष्टि चलायी जाय, तो आगे की सृष्टि दुर्बल हो जाती है। भारतवर्ष की गोजाति की हीनता इसी कारण से हुई है। इसी प्रकार वर से यदि कन्या की अवस्था अधिक हो, तो ऐसी वयोज्येष्ठा कन्या के साथ विवाह करना भी वर्णाश्रम श्रृंखला से विरूद्ध है। मीमांसा दर्शन यह सिद्ध करता है कि, वयोधि का कन्या के साथ विवाह करने से शक्ति का नाष होता है। शक्ति के नष्ट होने से वंष में पुरूष सन्तति का ह्रास हो

जाता है और पुरूष सृष्टि में क्रमशः शारीरिक शक्ति से साथ–ही–साथ मानसिक शक्ति और बौद्धिक शक्त भी क्षीण हो जाती है। परंतु ये सब कु फल समयान्तर में वर्ण परंपरा रूप से प्रत्यक्ष में आते हैं। इस कारण प्राचीन भारतद्वीप की सोशियोलॉजी में आर्य जाति की सुरक्षा के निमित्त ऐसे–ऐसे दूरदर्शितापूर्ण वैज्ञानिक नियम बताये गये हैं। प्राचीन आर्यों की विवाह नीति तो बड़े ही सारगर्भ और दार्शनिक विज्ञान के विजड़ित है। आजकल के सभ्य जगत में जिस प्रकार विवाह रीति को एक सामाजिक सुख प्राप्ति का अवलंबन करके माना गया है, और उसमें धार्मिक और पारमार्थिक विशेषता कुछ भी नहीं समझी गयी है, ऐसे सिद्धांत समूह प्राचीन भारतद्वीप के समाज विज्ञान से हेय समझे गये हैं। वर्णाश्रमी आर्य जाति में विवाह एक सर्वमान्य धार्मिक संस्कार माना जाता है। विवाह संस्कार के द्वारा संस्कृत पुरूष और स्त्री दोनों पूर्णता को प्राप्त होते हैं। जैसे वैद्युतिक जगत् (इलेक्ट्रिसिटी) के रहस्य में 'पॉजिटिव इलेक्ट्रिसिटी' और 'निगेटिव इलेक्ट्रिसिटी' दोनों तड़ित प्रवाह जब तक एक केन्द्र में सुसंस्कृत होकर यंत्र द्वारा सम्मिलित नहीं होते, तब तक कोई वैद्युतिक क्रिया सम्पन्न नहीं होती। ठीक उसी प्रकार प्राचीन आर्यों का यह स्थिर सिद्धांत है कि जब तक विवाह संस्कार के द्वारा संस्कृत होकर वर्णाश्रम मर्यादा के अनुसार स्त्री और पुरूष का युग्म नहीं बनता, तब तक वे धर्म साधन का पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते।

धर्म संस्कार से संस्कृत दंपति गँठबंधन कर योग, यज्ञ तथा दानादि धर्मानुष्ठान करने के अधिकारी होते हैं और दोनों जब शुद्धाचार से युक्त रहते हैं, तभी उनमें दैवीपीठ का आविर्भाव होता है। उस पीठ के साथ देवलोक का संबंध स्थापित हो जाता है। प्राचीन आर्यों का विवाह संस्कार केवल इस लोक के लिये नहीं है, उसका संबंध जन्मान्तररूपी आवागमन चक्र के साथ बराबर बना रहता है और आर्य दम्पति केवल इसी लोक में परस्पर को सहायता नहीं देते, किंतु जन्म–जन्मान्तर में भी एक दूसरे को सहायता देते हुए अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करते हैं। प्राचीन भारतद्वीप के पूज्यपाद महर्षियों का यह दृढ़ सिद्धांत है और यही वर्णाश्रम रक्षा का तृतीय दुर्ग है।

भारत द्वीप की वर्णाश्रम रूपी सोशियोलॉजी की सुरक्षा का चतुर्थ दुर्ग शुद्धाशुद्ध विवेक है। मनुष्य पूर्णाव्यव जीव है, क्योंकि उसमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँचों कोषों की पूर्णता हो जाती है। आर्य मानव पिण्ड भारतद्वीप की सोशियोलॉजी में वहीं समझा जाता है, जिस मानव पिण्ड में इन पाँचों कोषों की शुद्धता की सामग्री विद्यमान हो। साधारण रूप से मनुष्य में इन पाँचों कोषों में जो अलग–अलग अपवित्रता आया करती है, वैदिक दर्शन–शास्त्रों में उनके अलग–अलग नाम गिनाये हैं और लक्षण भी कहे हैं। अन्नमय कोष की अपवित्रताओं को मल कहते हैं। यह मल साधारण मलिनता (गंदगी) को नहीं कहते। अन्नमय कोष में जिससे जड़ता उत्पन्न होती है, उसी को कहते हैं। इसी प्रकार प्राणमय कोष की। नियमित क्रिया में और उसकी पवित्रता में जो बाधक हो, उसको विकार कहते हैं। इसी तरह मनोमय कोष में जिससे चंचलता बढ़ जाती है, ऐसी हानिकारक शक्ति का नाम विक्षेप हैं विज्ञानमय कोष में बुद्धि को जो आवृत करती है, उस शक्ति को आवरण कहते हैं और योग बुद्धि के समझने योग्य जो आनन्दमय कोष है, उसमें तमोगुण के प्रभाव को बढ़ाने वाली जो शक्ति है, उसको अस्मिता कहते हैं। भारतद्वीप की सोशियोलॉजी में जो शुद्धा–शुद्ध विवेक और स्पर्षा–स्पर्श विवेक का बड़ा और विस्तृत अधिकार पाया जाता है, उनका उद्देश्य यही है कि, मानव पिण्ड में मल, विकार, विक्षेप, आवरण और अस्मिता की वृद्धि न होने पावै। कितनी गंभीर दार्शनिक भित्ति पर प्राचीन आर्यों का शुद्धा–शुद्धि विवेक जमाया गया है, वह विवेचन से समझ में आ सकता है। इन पाँचों प्रकार के बुरे प्रभाव के उदाहरण दिये जाते हैं। अपवित्र पदार्थों के संबंध से अन्नमय कोष के मल के बढ़ने का उदाहरण शास्त्रों में दिया गया है। शव का स्पर्श होने से

प्राणमय कोष पर बुरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि शव में से प्राणमय कोष अन्य कोषों को लेकर निकल जाता है। सूर्य–चंद्र–ग्रहण के समय जो अशौच माना जाता है, उसका प्रथम संबंध मनोमय कोष से होता है। क्योंकि सूर्य और चन्द्रग्रहण की आकर्षण विकर्षण शक्ति में ग्रहण के समय बाधा हो जाती है। उसका बुरा प्रभाव मनोमय कोष से आरंभ होता है। कु–संसर्ग से विज्ञानमय कोष पर मलिनता आ जाती है और कुप्रभाव विज्ञानमय कोष से प्रारंभ होता है। इसी प्रकार सद्सद विचार रहित होने से आनन्दमय कोष मलिन होकर उसका प्रभाव अन्य कोषों तक पहुँचता है। यह सब विषय वेद के कर्म मीमांसाशास्त्र में भली–भांति सिद्ध कर दिखया गया है और यह भी सिद्ध करके दिखाया है कि, ये पाँचों प्रभाव एक दूसरे से मिले–जुले भी रहते हैं। इस कारण इन पाँचों कुप्रभावों से सुसंस्कृत आर्य पिण्ड को निरंतर बचाये रखने के लिये वेद और स्मृतिशास्त्र में शुद्धाशुद्ध विवेक का इतना विस्तृत विचार किया गया है। यह चौथा दुर्ग स्थूल राज्य से सूक्ष्म राज्य तक विस्तृत होने के कारण इसके पालन का बरताव वर्णाश्रमी आर्यजाति में सर्वत्र दिखायी देता है।

इस अलौकिक तथा विशुद्ध दार्शनिक भित्ति पर स्थित धर्ममूलक समाज विज्ञान का मूल अंतर्जगत्रूपी देवलोक में दृढ़तापूर्वक स्थित है। उसकी शाखा–प्रशाखाएँ भूः भुवः स्वः रूपी त्रिलोक में परिव्याप्त हैं। क्योंकि त्रिलोक के संम्वर्द्धन के साथ इसका दृढ़ संबंध है। इस कल्पद्रुम का फल और पुष्प आर्य धर्मपालक मानव पिण्ड सदा उदित रहता है। इस धर्म का पालन करने से बिना प्रयास वर्णाश्रमी आर्य प्रजा अपने आप अभ्युदय को प्राप्त करती है और जन्म–जन्मान्तर में इसके भाग्यवान् जीव समूह आवागमन चक्र में आते–जाते हुए आध्यात्मिक पथ में निरंतर अग्रसर होते रहते हैं तथा अन्त में पूर्ण उन्नति लाभ करके ब्रह्मसायुज्य को प्राप्त करते हैं। उनके अभ्युदय और निःश्रेयस के लिये विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती। यही पूज्यपाद महर्षियों का निश्चित सिद्धांत है।

मीमांसाशास्त्र में भारतद्वीप की वर्णाश्रम रूपी सोशियोलॉजी की दार्शनिक भित्ति समझने के लिए एक बड़ा अलंकार दिखाया गया है। दर्शनशास्त्र में इस औपनिषदिक दृश्य का ऐसा वर्णन है कि, वर्णाश्रम का मूल आर्य महिलाओं का सतीत्व है। उसका स्कन्ध शुद्धा–शुद्ध विवेक है। उस वर्णश्रमरूपी वृक्ष की शाखाएँ वर्णाश्रम धर्म की श्रृंखलाएँ (आर्गेनाजेशन) हैं। उस वृक्ष के पत्र वर्णाश्रम के सदाचार हैं। उस महाशक्तिशाली और त्रिलोक को पवित्र रखने वाले वृक्ष का पुष्प जीव का अभ्युदय है। क्योंकि वर्णाश्रम की श्रृंखला ऐसी बाँधी गयी है कि, जिससे वर्णों और चारो आश्रमों के आचार यथाधिकार पालन करते रहने पर, चाहे नर हो चाहे नारी और चाहे किसी वर्ण का व्यक्ति हो, अपने आप ही आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ अभ्युदय को प्राप्त करता रहेगा और उसके पतन की संभावना नहीं रहेगी। उस वर्णाश्रम रूपी महाद्रुम का फल मोक्ष है। जो धर्म साधन और परमानन्द प्राप्ति के सिद्धानतों को लक्ष्य में रखकर पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों ने वर्णाश्रमरूपी भारतद्वीप की सोशियोलॉजी की सुदृढ़ व्यवस्था बाँधी है। इसकी कल्पना भी पृथ्वी पर अन्य किसी सभ्य जाति को नहीं हुई है।

संदर्भ

1. योगदर्शन–अ0–05
2. संन्यासगीता– अ0–6
1. कर्ममीमांसा–संस्कारपाद–97.114.116.130
2. तदेव–संस्कारपाद 77.78.79
5. तदेव– धर्मपाद 50.51.75.76
6. तदेव–क्रियापाद 114